विचार, सिद्धांत और व्यवहार : एक दार्शनिक विश्लेषण

*डॉ. पंकज बासोतिया

विषय–प्रवेश

यदि ''विचार, सिद्धांत और व्यवहार'' पर दार्शनिक चिंतन मनन करना हो तो इसका उचित प्रारंभ बिदुं क्या होना चाहिए? क्या इस प्रकार के चिंतन का प्रारंभ इन तीनों संप्रत्ययों की समुचित परिभाषा या व्याख्या से होना चाहिए या फिर उसे पहले से ही व्याख्यायित मान कर इन तीनों के बीच परस्पर संबंध के स्वरूप की आलोचना या विश्लेषण से विषय का प्रारंभ करना श्रेष्ठ होगा? क्या यह कहा जा सकता है कि तीनों के अपने स्वरूप की सही–सही व्याख्या में ही तीनों के बीच के परस्पर संबंध का प्रश्न भी स्वतः ही समाहित है।

विचार या चिंतन ही मनुष्य को सिद्धांत, नियम एवं मानकों की ओर ले कर जाता है और फिर ये नियम, सिद्धांत या मानक ही मानवीय व्यवहार के प्रेरक, संचालक एवं नियामक की भूमिका निभाते हैं। यहां प्रारंभ में ही इस ओर ध्यान देना उचित है कि यद्यपि शीर्षक में सिर्फ और सिर्फ मानवीय व्यवहार का ही चिंतन के विषय के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु विचार एवं सिद्धान्त के संप्रत्ययों को बीच में लाने के कारण 'मानवीय व्यवहार' ही यहां विषय के रूप में अभिप्रेत दिखाई पड़ता है न कि अन्य मानवेतर प्राणी जगत का व्यवहार। ऐसा नहीं है कि प्राणी जगत के व्यवहार के पीछे किसी भी प्रकार के विचार या नियम नहीं होते लेकिन मानवेतर अन्य प्रणियों का व्यवहार, विचार एवं नियम कहीं न कहीं सहज बुद्धि से ही संचालित है और वह उस प्रकार से विशिष्ट एवं जटील नहीं है जैसे कि मानवीय विचार और सिद्धांत। इस लेख के मनुष्य एवं मूल्य नामक section में इस प्रश्न पर विस्तृत विचार किया जाने के कारण यहां सिर्फ इस ओर संकेत किया गया है कि यद्यपि विचार एवं सिद्धांत ही, मनुष्य के व्यवहार के मुख्य नियामक एवं अभिप्रेरक हैं किन्तु बाद में जाकर जब ये विचार और सिद्धांत, रूढ़, जड़ एवं कठोर नियमों में बदल जाते हैं तो इन्हीं की भूमिका सकारात्मक न रहकर नकारात्मक हो जाती है। ये मनुष्य के विकास, उसके विस्तार में सहायक न रहकर उसके विभाजन, rigidity एवं अवनति के कारण तत्त्व बन जाते हैं। न केवल व्यक्ति, वरन् समाज या समूह के संदर्भ में भी जैसे ही विचार एवं सिद्धांत, rigidity का रूप लेते हैं तो वे परस्पर विद्वेष, conflict एवं हिंसा का कारण बन जाते हैं। इस कठिनाई से बचने के लिए मनुष्य में हमेशा ही विचार एवं सिद्धांतों के संबंध में एक विशेष प्रकार के लचीलेपन (reflexivity) एवं सापेक्षता की आवश्यकता है, जिस पर धर्म और प्रज्ञा नामक section में विचार किया गया है।

हम विषय का प्रारंभ इस मूलभूत प्रश्न को उठाकर भी कर सकते हैं कि विचार, चिंतन, मनन या सोचना अपने–आप में है क्या? सारी मनुष्य जाति का यदि कोई एक समान लक्षण है तो वह है– सोचना। विचार या सोच न केवल मानवीय चेतना की अर्न्तवस्तु है वरन् वही उसकी मूल क्षमता और उसकी संभावना भी है। सोच–विचार की क्षमता न केवल सभी में, मनुष्य के रूप में उपस्थित है वरन् वहीं हम सब को परस्पर एक–दूसरे से जोड़ने वाला समान तत्त्व भी है। सभी व्यक्ति अपनी–अपनी क्षमता, ऊर्जा और अपने–अपने अनुभव एवं ज्ञान के अनुसार सोच–विचार करते हैं।

हम कह चुके हैं कि ''विचार या चिंतन'' ही हमारी चेतना की अन्तर्वस्तु है किन्तु यदि पूछा जाए कि इस विचार, सोच या चिंतन की अन्तर्वस्तु क्या है? क्या विभिन्न सिद्धांत या अवधारणाएं ही इसकी अन्तर्वस्तु का निर्माण करते हैं या फिर हमारे संस्कार, स्व की हमारी अपनी–प्रतिति या प्रतिमा स्मृति, अनुभुतियां, भय, आकांक्षाएं जैसे अन्य जटील भाव, सुःख, दुःख और विभिन्न इच्छाएं भी इसी की अन्तर्वस्तु हैं? यदि ये सब भी इसी का हिस्सा हैं या गहरे में इससे संबंधित हैं तो फिर विषय की गहराई में जाने के लिए इनके परस्पर संबंध की पड़ताल अनिवार्य है।

इन्द्रियजन्य अनुभव से हम ज्ञान का अर्जन करते हैं, यह ज्ञान धीरे–धीरे संस्कार और स्मृति के रूप में संग्रहित होता जाता है, जिसकी प्रतिक्रिया में ही विचार का जन्म होता है और फिर उस विचार से कर्म उत्पन्न होता है। यदि पूरे जीवन इसी प्रक्रिया और चक्र का दोहराव चलता रहता है तो क्या हम इसे एक प्रकार का यांत्रिक पुनरावर्तन नहीं रहेंगे? क्या यह एक प्रकार का पूर्व नियोजन नहीं है जिसमें मनुष्य का मन और उसके कर्म आबद्ध हैं? यदि अवधारणाओं और विचारधाराओं के रूप में हमारे पास हमेशा पहले से ही निष्कर्षों, विश्वासों एवं आदर्शों का एक समुच्चय है तो फिर ये सभी पूर्वाग्रहों के रूप में बदलकर जीवन एवं संसार के प्रत्यक्ष बोध में, उसे स्पष्टतापूर्वक देखने में एक रूकावट नहीं बन जाएंगे?

प्रो. दयाकृष्ण के अनुसार मूल्यों की खोज, सृजन एवं प्राप्ति का मार्ग तभी संभव है जबकि मनुष्य स्वतंत्र हो।

“The pursuit of values can only be undertaken if a man is free but the end of all the value realization is ultimately complete fulfilment of human personality in its self-concious being…………

Freedom as presupposed and freedom as self&consciously realized are two different things. The first is the foundation of all else even in its empirical aspects. The second is the end of all values themselves remain unfulfilled in an essential respect.”

(Daya Krishna, Social Philosophy, Past and Future, IIAS, Shimla 1969, p.77)

मनुष्य और मूल्य

प्राचीन समय से ही मनुष्य की परिभाषा एवं लक्षणों पर जब भी विचार किया गया है तो विचार का एक मुख्य बिन्दु यह रहा है कि मनुष्य एवं अन्य पशुओं के बीच मुख्य अन्तर क्या है? क्या कोई ऐसा आधार हे, या हो सकता है जिसके द्वारा मनुष्य एवं पशु के बीच अन्तर को स्पष्ट किया जा सके? अरस्तु ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए मनुष्य ''सामाजिकता'' एवं उसकी ''बौद्धिकता'' को क्रमशः मनुष्य के व्यावर्तक लक्षण के रूप में स्वीकार किया है। इन दोनों ही लक्षणों को कम या अधिक मात्रा में पशुओं में भी पाकर कुछ अन्य विचारकों ने ''भाषा'' को मनुष्य एवं पशु के बीच का मुख्य अन्तर माना है, किन्तु पशुओं में भी कम या अधिक मात्रा में परस्पर संचार एवं भावनात्मक समझ पाई जाती है। प्राचीन भारतीय चिंतन में विशेषकर उपनिषद् साहित्य में इस प्रश्न का उत्तर ''मनुष्य की प्रत्यंगमुखी चेतना'' या उसकी अपने ही भीतर जा पाने की क्षमता को माना गया है। प्राणियों में सिर्फ और सिर्फ मनुष्य ही है जो अपने ही भीतर उतर सकता है, अपनी ही चेतना पर अपनी ही चेतना के द्वारा विचार कर सकता है। अपने भीतर जा पाने की यह क्षमता, मनुष्य में एक ऐसी सृजनशीलता एवं स्वतंत्रता को उत्पन्न करती है जो मूल्यों के सृजन के लिए न केवल अनिवार्य है वरन् मूल्यों का प्रथम एवं अन्तिम स्रोत भी है। प्रो. जी. सी. पाण्डे, प्रो. दयाकृष्ण एवं यशदेव शल्य जी आदि ने इसलिए एकमात्र मनुष्य को ही, समस्त प्राणियों में ''मूल्यों के सृष्टा'' के रूप में स्वीकार किया है। सिर्फ और सिर्फ मनुष्य ही है जो निरन्तर नवीन से नवीनतर मूल्यों की खोज, उनके सृजन एवं प्राचीन मूल्यों के संरक्षण या परिवर्तन में संलग्न रहता है। इन्हीं मूल्यों की नींव पर न केवल व्यक्तिगत मानवीय कर्म

एवं अभिप्सा वरन् बड़ी–बड़ी सामाजिक राजनैतिक संस्थाओं और भिन्न–भिन्न एवं व्यापक मानवीय संस्कृतियों का निर्माण होता है। प्रत्येक सभ्यता एवं संस्कृति अपने निर्माण की प्रक्रिया में, सदैव ही नवीन से नवीनतर मूल्यों के सृजन, पुर्नसृजन, संरक्षण एवं परीवर्धन की जटील एवं निरंतर प्रक्रिया में संलग्न रहती है। ये मूल्य ही इस सभ्यता एवं संस्कृति के सदस्यों के व्यक्तिग कर्मों में अभिप्रेरक एवं अभिव्यंजक की व्यापक भूमिका का निर्वाह करते हैं। इसी उद्देश्य से प्रत्येक संस्कृति में न केवल मनुष्य की एक व्यापक अवधारणा होती है वरन् प्रत्येक संस्कृति के पास सार्थक जीवन एवं सार्थक कर्म की भी अपनी एक विशिष्ट संकल्पना भी होती है। जिसकी नींव पर और जिसके लिए उस संस्कृति की विभिन्न परम्पराएं और मानवीय व्यवहार टीके होते हैं। यहां आकर मूल्यों का ज्ञानमीमांसिय या तत्त्वमीमांसिय मूल्यांकन अधिक महत्त्वपूर्ण न रहकर यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि ये मूल्य, उस संस्कृति विशेष में, उस परम्परा में किस प्रकार अर्थ (Meaning) की सारगर्भित खोज को निर्देशित व नियमित करते हैं।

धर्म और प्रज्ञा

भारतीय मुल्य–मीमांसा या पुरुषार्थ–मीमांसा के संदर्भ में, ''धर्म और प्रज्ञा'' दो ऐसे विषय हैं जो बार–बार उभरते हैं।

बृहदारण्यक–उपनिषद् (ब्राह्मण 4, अध्याय संख्या 1) में धर्म का यह उल्लेख कर्म की समस्या को उठाते हुए ही प्रारंभ होता है। मानवीय व्यवहार के संदर्भ में समस्या कर्म की ही नहीं है वरन् कर्म तो मनुष्य की सहज वृत्ति ही है पर वास्तविक समस्या है एक ऐसे कर्म की जो न केवल सार्थक एवं नैतिक हो वरन् उसे सफलता, तृप्ति और पूर्णता प्रदान करता हो। बृहदारण्यक उपनिषद् इसे ब्रह्म के संदर्भ में उठाता है। सभी वर्गों की रचना करने पर भी ब्रह्म कर्म करने में तो समर्थ था, किन्तु 'विभुतियुक्त' कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। तब उसने श्रेय रूप में धर्म की अतिसृष्टि की। यह जो धर्म है, यह सभी का नियन्ता है, अतः धर्म से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। यहां विभुति का अर्थ है– सिद्धि और एश्वर्य (Accomplishment, (तृप्ति और पूर्णता), nurturing, cherishing, ample (भूमा) इसी श्रेय की व्याख्या करते हुए कठोपनिषद् (1.2.1 एवं 1.2.2) का कहना है कि ''श्रेय अलग है और प्रेय अलग है, दोनों अलग–अलग अर्थ (Meaning/value) होते हुए भी मनुष्य को बांधते हैं। जो श्रेयस का वरण करता है, उसका भला (साधु/शुभ) होता है जबकि प्रेयस का वरण करने वाले के अर्थ का हनन हो जाता है। श्रेयस और प्रेयस दोनों ही (शायद मिश्रित रूप से) मनुष्य के पास आते हैं, धीर पुरुष विचार पूर्वक दोनों को अलग–अलग करता है। (विविनक्ति धीरः) धीर मनुष्य प्रेय के सामने होते हुए भी श्रेय का ही वरण करते हैं जबकि मन्दबुद्धि मनुष्य योग–क्षेम के स्थान पर प्रेय का वरण करते हैं।

यहीं पर इससे पहले कि उपनिषद् ने श्रेय एवं प्रेय के रूप में दो भिन्न प्रकार के अर्थ अर्थात् मूल्यों का वर्णन करने से पूर्व, उस परम मूल्य, परमदृअर्थ का वर्णन करने का प्रयास किया है, जिसकी अभिप्सा एक प्रकार से अन्य सभी मुल्यों का आधार बिंदु है। उपनिषद् के अनुसार, ''यू तो ईश्वर ने मनुष्य की इन्द्रियों को बर्हिमुखी बनाया है इसलिए मनुष्य हमेशा बाहर की ओर देखता रहता है किन्तु सिर्फ और सिर्फ वे मनुष्य, जो अमृतत्व को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, वे विरले मनुष्य ही अपने चक्षु को मोडकर (आवृत चक्षु) अपने ही भीतर की ओर देखने का प्रयास करते हैं। अपने ही भीतर की ओर देखते हैं।

इस प्रकार का वरण् अर्थात् चयन और श्रेय एवं प्रेम को परस्पर एक–दूसरे से अलग करने वाली, मानवीय प्रतिभा को ही परम्परा में ''प्रज्ञा'' के रूप में जाना गया है। धर्म, चारों पुरुषार्थ और प्रज्ञा आदि को लेकर अत्यन्त गंभीर एवं विशद् चिन्तन ''महाभारत के शान्ति पर्व'' में भी मिलता है। शान्ति पर्व के अनुसार ''धर्म न केवल शाश्वत एवं सनातन है वरन् इसका एक पक्ष देशकाल अनुगामी देशकाल सापेक्ष भी है। (शा. पर्व. 37/8, 297/16) समय एवं परिस्थिति के अनुसार ही कभी अधर्म–धर्म हो जाता है और धर्म–अधर्म –

भवत्यधर्मो धर्मोहि धर्माधर्मावुभावपि ।

कारणाद् देशकालस्य देशकालः स तादृशः।।

और चूंकि देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार, क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, यह बदलता रहता है इसलिए इससे संबंधित नियम नित्य या शाश्वत होते हुए भी सदैव मानवीय प्रतिभा एवं प्रज्ञा का विषय हैं। यहां प्रज्ञा का अर्थ है औचित्य विचार और प्रतिभा का अर्थ है उपाय कौशल। महाभारत के इस प्रज्ञा संबंधी विचार पर बौद्धों का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है जहां शील एवं समाधि के साथ–साथ निर्वाण प्राप्ति में प्रज्ञा की महती भूमिका है– इस प्रज्ञा के एक नहीं वरन् तीन पक्ष हैं– श्रुतमयी, चितंनमयी एवं भावनामयी।

बौद्ध दर्शन में प्रज्ञा को सामान्य रूप से समझते हुए कहा गया है कि ''एक ही बिन्दु के संबंध में अनेक दृष्टियों से विचार करना'' ही प्रज्ञा है, इस प्रकार प्रज्ञा का concept न केवल जैन दर्शन के अनेकांतवाद एवं स्याद्वाद के साथ गहरी समानता रखता है वरन् यह भारतीय दर्शन के पद्धतिमूलक स्वरूप (पूर्वपक्षमंडन, पूर्वपक्षखंडन एवं सिद्धांत) के संदर्भ में इस प्रकार प्रासंगिक हो जाता है कि पूर्वपक्ष एक के स्थान पर अनेक होने के कारण दार्शनिक के लिए एक ही बिन्दु पर अनेक दृष्टियों से विचार करना आवश्यक हो जाता है।

ईच्छा, काम और संकल्प

मनुष्य के कर्म के पीछे किसी न किसी प्रकार की ईच्छा या संकल्प अवश्य ही होता है। इच्छा से ही कर्म करने का संकल्प उत्पन्न होता है और फिर उसी संकल्प से चेष्टा या प्रयत्न उत्पन्न होता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में इसे ''काम'' के रूप में स्वीकार किया गया है। यही काम एक और तो न केवल एक मनुष्य वरन् समस्त सृष्टि के मूल कारक एवं विधायक तत्त्व के रूप में प्रकट होता है (बृहदारण्यक उपनिषद्, ऋग्वेद के नासदीय सूक्त, अथर्व वेद के कामसूक्त) वहीं दूसरी ओर महाभारत एवं भगवद्गीता तक आते–आते यह मनुष्य के पतन के मूल कारक एवं व्यक्तित्व के सर्वाधिक नकारात्मक तत्त्व के रूप में प्रकट होता है। युद्ध में न केवल कौरवों की पराजय वरन् मृत्यु का कारण यही है कि 'वे अर्थात् कौरव काम और मन्यु के वशीभुत थे, क्रोध और हर्ष से भरे हुए थे, अतः इन्हें मृत्यु रूपी रथ पर सवार होकर यमलोक जाना पड़ा।

काममन्युपरीतास्ते क्रोध हर्ष समान्विताः।

मृत्यु यानं समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम् ।। शा.प. 7.12

जब काम सिद्ध नहीं होता तब वही क्रोध में परीणित हो जाता है। शंकराचार्य के अनुसार, अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की लालसा काम है जबकि प्राप्त वस्तु के प्रति आसक्ति का नाम राग है।

कामः तृष्णा असन्निकृष्टेषु विषयेषु।

रागः रंजना प्राप्तेषु विषयेषु

(राधाकृष्णनः भगवद्गीता पे. 257)

भगवद्गीता के अनुसार, ज्ञान, (जिसे हमने विचार या चिंतन कहा है।) काम की इसी तृप्त न होने वाली आग से आवृत रहता है। (3.38)

इन्द्रियों के विषयों के प्रति मन में जो अनुराग उत्पन्न होता है उसी से काम और काम से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मूढ़ता, मृढ़ता से स्मृति का नाश और स्मृति के नाश से वृद्धि का नाश हो जाता है। जिससे व्यक्ति स्वयं

नष्ट हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.5 के अनुसार, ''यह मनुष्य काममय है। काम से ही संकल्प उत्पन्न होता है, जैसा संकल्प होता है वैसा ही कर्म मनुष्य करता है और फिर जैसा वह कर्म करता है वैसा ही फल उसे मिलता है''

काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति, तत्क्रतुर भवति।

यत्क्रतुर भवति, तत् कर्म कुरते। यत् कर्म कुरते, तदभिसंपद्यते। (बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.5)

काम एवं संकल्प के परस्पर संबंध के विषय में एक विवाद यह भी है कि काम से संकल्प का जन्म होता है या फिर संकल्प से काम का? मनु के अनुसार, काम से संकल्प नहीं वरन् संकल्प से काम की उत्पत्ति होती है –

संकल्पमूलः कामा वै यज्ञः संकल्प संभवः । (मनुस्मृति 2.3)

महाभारत के ही शान्तिपर्व, अध्याय 77 श्लोक 25 के अनुसार, ''ओ काम, मैं तुम्हारे मूल को जानता हूँ। तुम्हारा जन्म संकल्प से होता है। मैं तुम्हारा संकल्प नहीं करूंगा जिससे तुम हो ही नहीं पाओगे।''

काम, जानामिते मूलं, संकल्पात्वं हि जायसे ।

न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मेन भविष्यसि ।। (शा.प. 77.25)

आश्वमेधिक पर्व में अनुगीता से तत्काल पूर्व आने वाली कामगीता के अनुसार, 'मनुष्य की कोई भी प्रवृत्ति बिना कामना के नहीं होती और समस्त कामनाएं मन से ही प्रकट होती हैं। काम के स्वयं के शब्दों में, उसे किसी भी उपाय से नष्ट नहीं किया जा सकता। जो मनुष्य मुझे बल के द्वारा नष्ट करने का प्रयत्न करता है उसमें मैं बल (यानि अभिमान) के रूप में बार–बार प्रकट होता हूँ। जो मुझे दक्षिणा एवं यज्ञ के द्वारा नष्ट करने का प्रयत्न करता है, उसमें मैं उसी प्रकार पुनः पुनः प्रकट होता हूँ, जैसे जंगम योनि में धर्मात्मा। जो वेद वेदान्त आदि साधन के द्वारा मुझे मिटाना चाहता है, उसमें मन में मैं स्थावर भूतों की आत्मा की तरह प्रकट होता हूँ। जो मुझे धैर्य, सत्य और पराक्रम आदि के द्वारा नष्ट करने की चेष्टा करता है, उसके भावों में मैं इस तरह भावित हो जाता हूँ कि वह मुझे जान ही नहीं पाता। जो मुझे तप से मिटाना चाहता है, मैं उसके तप में ही पुनः प्रकट हो जाता हूँ। जो पण्डित मोक्ष का सहारा लेकर मेरा हनन करना चाहता है उसकी मोक्ष के प्रति जो रति है, उस रति को देखकर मैं हंसता हूँ और नृत्य करता हूँ। एकमात्र और एकमात्र मैं ही समस्त प्राणियों के लिए अवध्य और सनातन हूँ।

यो मां प्रयतते हन्तु मोक्षमास्थाय पण्डितः।
तस्य मोक्ष रहितस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।
अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः ।। 18 ।।
(आश्वमेधिक पर्व, अ. 13)

***सह–आचार्य**
दर्शनशास्त्र विभाग
राजीव गांधी राजकीय महाविद्यालय,
शिमला, (हिमाचल प्रदेश)